जनसत्ता

Date: 01-07-16

बीच बहस में

अनेक सामाजिक संस्थाएं और महिला संगठन अरसे से मुसलिम पर्सनल लॉ पर पुनर्विचार की जरूरत जताते रहे हैं; उनकी मांग रही है कि तीन तलाक और बहुविवाह पर रोक लगे।

अनेक सामाजिक संस्थाएं और महिला संगठन अरसे से मुसलिम पर्सनल लॉ पर पुनर्विचार की जरूरत जताते रहे हैं; उनकी मांग रही है कि तीन तलाक और बहुविवाह पर रोक लगे। यह अच्छी बात है कि अब सर्वोच्च अदालत ने भी इस मसले पर बहस और कानून की समीक्षा की जरूरत रेखांकित की है। अदालत ने बुधवार को कहा कि मुसलिम समुदाय में तीन बार तलाक बोल कर वैवाहिक संबंध तोड़ना एक बहुत महत्त्वपूर्ण विषय है जो एक बड़े तबके को प्रभावित करता है। अलबत्ता अदालत अभी सीधे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंची है, पर यह जरूर कहा है कि पर्सनल लॉ को संवैधानिक ढांचे की कसौटी पर परखना होगा, साथ ही यह संकेत भी दिया है कि इस मामले को ज्यादा बड़े पीठ या संविधान पीठ के सुपुर्द किया जा सकता है।

अदालत को यह कहने का अवसर इसलिए आया कि तीन बार तलाक बोले जाने के विषय पर चार याचिकाओं के जरिए सवाल उठाए गए हैं। मामले की सुनवाई कर रहे पीठ ने उन सभी को पक्षकार बनने की इजाजत दे दी और केंद्र सरकार से डेढ़ महीने के भीतर अपना रुख बताने को कहा है। इस सब से जाहिर है कि सुप्रीम कोर्ट ने पर्सनल लॉ के मसले को अतीत की तुलना में कहीं अधिक गंभीरता से लिया है। यह शायद इसलिए भी हुआ कि खुद मुसलिम समाज के भीतर पर्सनल लॉ को लेकर बेचैनी दिखाई देती है; उनमें ऐसे लोगों की तादाद बढ़ रही है जो मानते हैं कि इसमें बदलाव वक्त का तकाजा है। मसलन, कई मुसलिम संगठनों की प्रतिनिधि संस्था आॅल इंडिया मुसलिम मजलिस-ए-मुशावरत ने दो महीने पहले अपील की थी कि आॅल इंडिया मुसलिम पर्सनल लॉ बोर्ड और उलेमा मुसलिम पर्सनल लॉ में सुधार के लिए पहल करें। दूसरी ओर, अब भी अनेक मजहबी संगठन इस तरह के प्रयासों को अनावश्यक दखलंदाजी के रूप में देखते हैं।

इसके अलावा, सियासत का खेल अपना असर दिखाता रहता है; सांप्रदायिक संगठन, चाहे इधर के हों या उधर के, इसे महिला मामला रहने नहीं देते, अक्सर सांप्रदायिक मामला बना देते हैं। ऐसे में यह तर्क

आमतौर पर सुनाई देता है कि सुधार की पहल मुसलिम समाज के भीतर से होनी चाहिए, न कि उसे बाहर से थोपा जाए। बेशक यह आदर्श स्थिति होगी। पर सवाल है कि जो दखलंदाजी की दलील देते हैं, वे खुद सुधार के पक्ष में माहौल बनाने के लिए क्या कर रहे हैं? सुधार का इंतजार अंतहीन नहीं हो सकता; उसे तर्कसंगत परिणति तक ले जाने की जरूरत है। मुसलिम पर्सनल लॉ सारी दुनिया में एक-सा नहीं है; अनेक देशों ने उसमें अहम फेरबदल किए हैं।

इस्लाम के गहन अध्येता असगर अली इंजीनियर मानते थे कि भारत में प्रचलित मुसलिम पर्सनल लॉ, दरअसल 'ऐंग्लो मोहम्मडन लॉ' है जो औपनिवेशिक हुकूमत के दौरान अंग्रेज जजों द्वारा दिए गए फैसलों पर आधारित है। कोई इस निष्कर्ष से सहमत हो या नहीं, किसी कानून को संवैधानिक ढांचे की कसौटी पर परखे जाने के औचित्य से कैसे इनकार कर सकता है? जब खुद इस्लामी कहे जाने वाले अनेक देश मुसिलम पर्सनल लॉ को बदल सकते हैं, तो भारत में ऐसी पहल क्यों नहीं हो सकती? तीन तलाक और बहुविवाह पर रोक लगाने की मांग वाली याचिकाओं को सर्वोच्च न्यायालय ने जिस गंभीरता से लिया है उससे बदलाव की उम्मीद जगी है। पर क्या हम राजनीतिक दलों से भी यह उम्मीद कर सकते हैं कि वे अड़ंगा साबित नहीं होंगे

हिन्दुस्तान
तरक्की को चाहिए नया नजरिया

Date: 01-07-16

चीन की जिद

चीन ने यह जाहिर कर दिया है कि वह दक्षिण चीन सागर के बारे में संयुक्त राष्ट्र ट्रिब्यूनल का फैसला नहीं मानेगा। ट्रिब्यूनल ने घोषणा की है कि 12 जुलाई को वह अपना फैसला सुनाएगा। यह लगभग तय है कि फैसला चीन के पक्ष में नहीं आएगा, इसलिए काफी पहले से उसने अपनी मोर्चाबंदी शुरू कर दी है। दक्षिण चीन सागर में सीमाओं को लेकर फिलीपींस ने चीन के खिलाफ सन 2013 में मामला दायर किया था, लेकिन चीन ने लगातार इस मामले में मध्यस्थता अदालत की भूमिका का विरोध किया। चीन का कहना है कि अंतरराष्ट्रीय कानूनों के आधार पर सीमा-विवाद में किसी अंतरराष्ट्रीय अदालत को कोई फैसला सुनाने का हक नहीं है। अपने पक्ष में चीन ने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रचार अभियान भी चलाया है और कई देशों से समर्थन भी मांगा है, हालांकि उसके पक्ष में ज्यादा समर्थन जुट नहीं पाया है। दक्षिण

एशियाई देशों में लाओस और कंबोडिया चीन के पक्ष में झुके हुए दिखते हैं और बड़ी ताकतों में रूस ने चीन के इस रुख का समर्थन किया है कि सीमा विवाद द्विपक्षीय बातचीत से ही सुलझाए जाने चाहिए।

दक्षिण चीन सागर एक छोटा समुद्री क्षेत्र है, जो चीन की दक्षिण पूर्वी सीमा से जुड़ा है। यह समुद्र इंडोनेशिया, फिलीपींस, कंबोडिया, सिंगापुर, वियतनाम आदि कई देशों से भी जुड़ा है, जिनके साथ चीन का सीमा विवाद चल रहा है। पिछले दिनों चीन और इन आसियान देशों के विदेश मंत्रियों के बीच लंबी वार्ता हुई, जो बेनतीजा साबित हुई। वार्ता के बाद आसियान विदेश मंत्रियों ने पहले चीन के खिलाफ एक साझा बयान जारी किया और फिर संभवत: कंबोडिया के दबाव के बाद उसे वापस ले लिया। दक्षिण चीन सागर चीन व अन्य देशों के लिए पश्चिमी प्रशांत महासागर का प्रवेश द्वार है। इसका सामरिक और आर्थिक महत्व तो है ही, यह भी माना जा रहा है कि इसके तल में तेल के बड़े भंडार हैं। फिलीपींस और चीन के बीच झगड़े की जड़ इसके कुछ छोटे-छोटे द्वीप और कुछ उथली सतहें हैं।

चीन ऐसे द्वीपों और उथली सतहों पर कब्जा करके उन पर हवाई पट्टियां और अन्य सामरिक निर्माण कर रहा है। एक ऐसी ही उथली सतह के पास लंबे वक्त से फिलीपींस के मछुआरे मछली पकड़ते थे, जिस पर चीन ने सन 2012 में कब्जा करके सामरिक ठिकाना बना लिया है। इसी को लेकर फिलीपींस ने चीन की शिकायत अंतरराष्ट्रीय अदालत से की है। यह ठिकाना फिलीपींस की सीमा के बहुत करीब है और वहां जो अमेरिकी सामरिक ठिकाना है, उससे भी उसकी दूरी ज्यादा नहीं है। फिलीपींस अमेरिका का मित्र और सामरिक साझेदार है। इस मायने में यह झगड़ा चीन और अमेरिका के बीच भी है। चीन ने ऐसे कई स्थानों पर कब्जा करके वहां रेत भरकर कृत्रिम द्वीप बना लिए हैं और उन पर ऐसे ठिकाने बना लिए हैं, जिन पर हजारों चीनी कर्मचारी तैनात हैं। अन्य देशों का आरोप है कि चीन इस समुद्री क्षेत्र में बड़े पैमाने पर कई कृत्रिम द्वीप बना रहा है, जो पर्यावरण की दृष्टि से भी खतरनाक है।

अंतरराष्ट्रीय अदालत का कहना है कि वह सीमा विवाद नहीं हल करेगी। संभावना यह है कि अदालत यह फैसला सुनाएगी कि चीन जिन कथित द्वीपों पर दावा कर रहा है, वे सचमुच द्वीप हैं या समुद्र की उथली सतहें। अदालत का फैसला संभवत: यह होगा कि वे द्वीप नहीं हैं, इसलिए चीन उन पर और उनके आसपास के समुद्र पर दावा नहीं कर सकता। चीन इस फैसले को नहीं मानेगा, इसलिए विवाद वहीं का वहीं रहेगा। यह भी तय है कि चीन दक्षिण चीन सागर के बड़े हिस्सों पर आक्रामक ढंग से कब्जा बढ़ाता रहेगा और यह समुद्र अशांत बना रहेगा।

Date: 01-07-16

बेजा तर्कों पर टिकी एक बहस

राकेश सिन्हा

जब से केंद्र में भारतीय जनता पार्टी की सरकार बनी है, शिक्षा के भगवाकरण का आरोप लगातार लगाया जा रहा है। इस आरोप का संक्षेप में अर्थ यह है कि शिक्षण संस्थाओं और पाठ्यक्रमों में एक विशिष्ट विचारधारा का पोषण करना। एक लोकतांत्रिक समाज में विरोध सहज व स्वाभाविक है। मगर विरोध का आधार अगर तथ्यात्मक और तार्किक नहीं होता है, तो विरोध का स्वर स्वयं अपना प्रभाव खो देता है। आखिर इस आरोप के पीछे कौन-सी भावना और मानसिकता काम कर रही है? इसे जानना और समझना जरूरी है।

केंद्र में वैकल्पिक राजनीति व विचारधारा की बात करनेवाली भारतीय जनता पार्टी की सरकार मई, 2014 में बनी है। इससे नेहरूवादी दृष्टि, विचारधारा का असहज होना स्वाभाविक है। जब भी इतिहास में वैकल्पिक विचार उभरता है, तो उसे विरोध, आरोप, उलाहने और बहिष्कार का सामना करना पड़ता है। आज भारत के बौद्धिक-राजनीतिक जगत में ऐसा ही कुछ हो रहा है। औपनिवेशिक काल में भारत सरकार अधिनियम 1919 के तहत चुनाव होने के बाद जब पहली बार कांग्रेस के लोग मंत्री बने, तब उन्हें भी अंग्रेजी संस्कृति, राजनीति और बौद्धिकता के विरोध का सामना करना पड़ा था। यहां तक कि नौकरशाही भी उन्हें हजम नहीं कर पा रही थी।

2014 का चुनाव परिणाम सत्ता परिवर्तन से कहीं अधिक मायने रखता है। ब्रिटेन के अखबार द गार्जियन ने 18 मई, 2014 को अपने संपादकीय में जो सटीक टिप्पणी की थी, उसका सीधा संबंध देश के भीतर इसी वैचारिक अशांति से है। अखबार ने लिखा था, 'आज 18 मई, 2014 इतिहास में इस बात के लिए जाना जाएगा कि ब्रिटेन ने अंतत: भारत छोड़ दिया।' उसने आगे लिखा, 'नरेंद्र मोदी की चुनाव में जीत उस युग का अंत है, जिसमें राजनीतिक संरचना महाद्वीप में ब्रिटेन के शासन के दौरान की संरचना से बहुत अधिक भिन्न नहीं थी।

कांग्रेस शासन के दौरान भारत बहुत अर्थों में ब्रिटिश शासन की निरंतरता ही थी।' यह टिप्पणी कई अर्थों में असाधारण है। ब्रिटिश अखबार ने स्वीकार किया कि भारत की पुरानी राजनीति ने वैचारिक परतंत्रता को अपने भीतर आत्मसात कर लिया था। यह इस हद तक था कि उसमें ब्रिटेन की औपनिवेशिक शैली की निरंतरता साफ झलकती थी। वैचारिक परजीवियों ने राजनीतिक संरचना और दर्शन को यूरोप का कार्बन-कॉपी बना दिया। अपनी विरासत के प्रति अलगाव व यूरोपीय मन-मस्तिष्क मानसिकता से लगाव

की जो संस्कृति पीढ़ी-दर-पीढ़ी पैदा की गई थी, उसने भारत के अभिप्राय को देशज से विदेशज बना दिया।

ऐसा नहीं है कि देश में शोध और ज्ञानार्जन नहीं हो रहा है। लेकिन यह भी असत्य नहीं है कि ज्ञान की हमारी समकालीन परंपरा यूरोप केंद्रित है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण सामाजिक विज्ञान है। इसे भारत केंद्रित करने का प्रयास हमारी सामूहिक जिम्मेदारी है। लैटिन अमेरिका के मार्क्सवादियों ने अपनी संस्कृति और शिक्षा, दोनों को देशज बनाने का काम किया है। मगर भारत के मार्क्सवादी अपने देश में हो रहे ऐसे प्रयास का विरोध कर रहे हैं।

इतिहास की पुस्तकों में विकृतियों का कारण दृष्टिदोष है। एक विचित्र समानता औपनिवेशिक और नेहरूवादी दृष्टिकोण में है। वे यूरोप के प्रिज्म से भारत के नायकों, घटनाओं, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझना चाहते हैं। तभी तो उपनिवेशवाद का अंत हो गया, मगर इतिहास की पुस्तकों में सिख गुरु तेगबहादुर 'लुटेरा' और शहीद भगत सिंह 'आतंकवादी' कहे जाते रहे। बार-बार संघ पर इतिहास से खिलवाड़ करने का आरोप मढ़ा जाता है। मगर कोई तथ्य और तर्क नहीं दिया जाता है। एक-दो नियुक्तियों के बहाने जनमत को भ्रमित करने का प्रयास होता है। मगर यह सवाल उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि संघ द्वारा इतिहास की व्याख्या। इसका एक छोटा उदाहरण ही समकालीन इतिहास की न्यूनता को प्रकाश में लाने के लिए काफी है। अभिनव गुप्त तब तक पीढ़ियों के लिए अजूबा नाम थे, जब तक संघ ने 11वीं सदी के इस विद्वान की सहस्त्राब्दी वर्ष मनाने का निर्णय नहीं किया। इसी तरह, पूर्वोत्तर की जनजातीय क्रांतिकारी 'रानी' गाइदेन्लयू के नाम से देश तब सुपरिचित हो पाया, जब उनका जन्म-शताब्दी वर्ष मनाया गया।

आखिर ऐसा क्यों और कैसे हुआ, यह प्रश्न उनके सामने है, जो भगवाकरण के नाम पर अशांत दिख रहे हैं। जो घटनाएं और पात्र देश में पंथनिरपेक्षता की परंपरा के प्रतिबिंब हैं, वे हाशिये पर रखे गए। जैसे कि केरल में हिंदू राजा ने एक मंदिर को मुस्लिम व्यापारियों के इबादत के लिए मस्जिद में तब्दील कर दिया। यह चेरामन मस्जिद दुनिया की दूसरी पुरानी मस्जिद है। मगर इसका कहीं उल्लेख तक नहीं है। इसी तरह, इस्लाम को भारतीय अध्यात्म और ज्ञान परंपरा के करीब लाने का प्रयास करने वाले दारा शिकोह को जान-बूझकर उपेक्षित रखा गया, जबकि उनके अनुज औरंगजेब का महिमामंडन किया गया। आधुनिक भारत के इतिहास में देश के बंटवारे के सच, उसके पीछे की राजनीतिक प्रक्रिया और घटनाओं का आधा-अधूरा चित्रण किया गया। पूरा विश्लेषण द्वि-राष्ट्रवादियों व सांप्रदायिक मानसिकता को दोषमुक्त करने का उपक्रम मात्र है। एक और उदाहरण प्रासंगिक है। प्रथम विश्वयुद्ध को भी औपनिवेशिक दृष्टिकोण से देखा जाता है। 14 लाख 57 हजार भारतीयों को सेना में भर्ती किया गया, जिनमें साढ़े नौ लाख विदेश भेजे गए। इन जवानों के साथ दोयम दर्जे की तरह का व्यवहार होता रहा। मगर इस मामले में इतिहास में लीपापोती की गई।

वास्तव में दृष्टियों का अंतर ही इतिहास की बुनियाद बदल देता है। एक दृष्टि वह है, जब पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में नौ जुलाई, 2005 को अपने उद्‌बोधन में ब्रिटिश राज को भारत के लिए 'लाभदायक' बताते हुए शुक्रिया कहा था। जबकि दूसरी दृष्टि वह, जब प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी 2003 में जेनेवा से क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा का अस्थि-कलश लेकर भारत आए। यह अस्थि-कलश 1930 से स्वदेश में अपने विसर्जन की प्रतीक्षा कर रहा था। यह दृष्टि पहली से पूरी तरह अलग है। संघ इसी भारतीय दृष्टि को विमर्श का केंद्र बना रहा है। इसमें 'भारतीय होने का अर्थ' निहित है। कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के भारतीय विद्‌या भवन से लेकर चिंतक धर्मपाल की कृति तक जैसी उपेक्षित संस्थान व रचनाएं विमर्श के स्वाभाविक हिस्से हैं। औपनिवेशिक विरासत से ऊपर उठना, देशज दृष्टि से अपने इतिहास को देखने को ही भगवाकरण कहा जा रहा है। देश, काल, स्थिति का विचार करके जो इतिहास लिखा जाएगा, वही भारतीय इतिहास होगा।

THE ECONOMIC TIMES

Date: 02-07-16

A quarter century of economic reform

India's contemporary economy began to take shape a quarter of a century ago, on July 1, 1991, with the first of a two-step devaluation of the rupee to the tune of a fifth. It was not apparent then. Indeed the mood around new prime minister PV Narasimha Rao was politically adversarial, fearful about the present and apprehensive about what the future would bring. But the economy was in a desperate shape. The expanisonary policy of the '80s had widened the fiscal and current account deficits, the first Gulf War had triggered financial global panic and India had just enough foreign exchange for two weeks of imports. Correcting the overvaluation of the rupee was the necessary first step. Everyone, from the BJP's Atal Bihari Vajpayee, to VP Singh of the Janata Dal and the Left parties, cried foul.

The rest of the story, through 1991-92, involved pioneering measures: the dismantling of industry's Licence-Permit Raj, lower taxes and duties, opening up to overseas investments, institutionalisation of equity regulator Sebi to replace the Comptroller of Capital Issues, the creation of India's first automated bourse – the National Stock Exchange – and a swift return to economic stability. Rao adjusted India's foreign policy to the post-Soviet unipolar world, ended its westward bias. Ironically, as the economy recovered, anti-reform voices across the political spectrum got louder, as did the 'Bombay Club' of entrenched business interests. Inflation surged in 1994, and Rao effectively put reforms on the shelf to prepare for polls in 1996. Despite that, successive regimes, led by Congress, BJP or third-party coalitions, have stuck with reform, even if in fits and starts. As Singh said later, we act decisively in the face of crisis. In better times, twiddling our thumbs is a national pastime.

India joined the World Trade Organization, lowered tariffs and brought its patent laws in line with global expectations. India became an IT powerhouse, poverty fell sharply. Despite these and other achievements, much work remains, inlcuding the Goods and Serivces Tax. Nostalgia on an anniversary is fine. Action is better

---

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 01-07-16

Health tips

Over time, a ratings system with cash incentives should energise the state health delivery system

Someone at the health ministry has used his or her imagination, and a rating system has been proposed to incentivise government facilities — and state governments by extension — which keep their premises and services in good working order. Initially covering community health centres, it is an intelligent step towards a transparent, responsive and responsible health system, though the proposal is only foundational and admittedly requires development. A minimum head count of doctors, nurses and laboratory technicians assures a single star rating. More stars are earned according to pharmaceuticals available, services offered and success in engaging patients. The fifth and final star is to be earned by benchmarks like the performance of at least five Caesarean sections and implantation of at least three intrauterine devices every month.

Points aggregated by states can be redeemed for a 5 per cent incentive in the outlay from the National Health Mission. The innovation is designed to spark competition and should have a salutary effect, encouraging states to compete for extra funds. Institutions which contribute significantly to state aggregates will naturally earn prestige, and perhaps better allocations. However, statutory warnings must be issued against indiscriminate competition. For instance, Caesarean sections are already preferred in India for non-medical reasons like a favourable astrological chart, and further enthusiasm for the procedure would harm public health. IUDs should be cautiously used as a benchmark too, since the choice of contraceptive method is the patient's right.

Besides, the criteria for earning stars must be sharpened. The trouble with the delivery of state services is not the lack of qualified personnel, but absenteeism and poor application. Specifying a minimum number of personnel only lays down a baseline. Other human resource criteria must be applied to measure the quality of their work. Similarly, the mere presence of services and equipment indicates

nothing. Government hospitals are junkpiles of clinically dead equipment which remains on the record. Patients often have to seek private providers for radiological and imaging tests, for instance, and lives are tragically lost because a ventilator or resuscitator is kaput. It is not uncommon for hospitals to acquire equipment and then leave it crated, for want of space or support facilities. The condition of equipment matters more than mere numbers. However, the availability of drugs, which is often conditioned by local interests, will certainly improve under scrutiny. A points system will improve over time, and we must not cavil at its initial deficiencies.

Date: 02-07-16

On The Right Track

The bureaucracy, which has made Railways their own fief with absolute freedom from accountability, will not allow any change in status quo.

Written by S Pushpavanam

A panel headed by Bibek Debroy, a member of Niti Aayog, has suggested that the practice of a separate railway budget be discarded. This remedy is worse than the disease.

The step is expected to help depoliticise the Railways. But Suresh Prabhu, the railway minister, is already refusing to announce new lines and new trains for political reasons and has introduced transparency in tendering. Next, it is argued that it would help the government to take decisions without losing track of commercial viability. If that is the intent, the Railways needs to tackle other issues.

For instance, the unions, entrenched in a corrupt relationship with bureaucrats, will never allow reducing the staff cost from the current 53 per cent of the revenue to at least 40 per cent when 10 to 20 per cent is the norm and commercial viability threshold in railways elsewhere. The bureaucracy, which has made Railways their own fief with absolute freedom from accountability, will not allow any change in status quo. In fact, they would try to expand the fief solely to serve their interests. As the Debroy report reveals, when nine zones became 17, efficiency only decreased.

There is nothing to show that customer service would improve if the Railways became a part of the government. If the budgets are merged, the Railways would move even further into the government, instead of moving further away from the government.

A better option is, perhaps, to allow zones to become corporations. Let manufacturing units compete with private players. Let the zones follow standard commercial accounting practices and lure investments. The rail budget will then become irrelevant and wither away.

It is also suggested that merging the rail budget with the Union budget will facilitate account reforms. Several committees, from Sarin (1985) to Debroy (2015) have recommended accounting reforms to enable easy understand of the true financial state of the organisation. The power of the railway bureaucracy can be measured by the fact that till today they have stalled all efforts at reform. Prabhu promised zero-based budgeting in this year. Has it happened? The railway board needs to be overhauled and experts must replace employees as members.

This merger of budgets can be done only at the cost of transparency and accountability. Former railway minister Sadananda Gowda, in his budget speech of 2014, said out of 676 projects in 30 years, only 327 were completed. After spending the original estimate Rs 1,57,883 crore, now the Railways needed Rs 1,82,000 crore to complete the rest. Only one out of 99 new lines sanctioned in the last 10 years has been completed. This kind of shocking revelation is unlikely to be made about the Railways in the general budget.

The Indian Railways carries 822 crore passengers in a year (2014-15). There are expectations and curiosity about the way it is run. The annual revenue of the Railways is projected to be Rs 1, 84, 820 crore. Few state have such large budgets. The organisation, clearly, needs special attention.

It may be worthwhile to recall why the railway budget was separated from the general budget in the first place. The Acworth Committee in 1921 wanted the railways to be run as a commercial organisation on sound business principles. Then, it would meet its needs from its own income, from outside the general revenues of the country. Three other committees endorsed the intent. Japan separated its railway budget from the central budget in 1919. A legislative assembly committee on September 20, 1924, passed a resolution separating the railway budget from the general budget. The government accepted it and the convention of 1924

came into force. It recognised the Railways as being free to look after their own affairs and to function on “sound business principle” as a commercial undertaking, besides being a public utility.

This must continue. Merging the budgets and making it a mere department of the government would take us back by a century to pre-1924 days.

THE TIMES OF INDIA

Date: 02-07-16

Global Village Is A Myth:

Cultures still retain a stubborn opacity impenetrable to outsiders

Pavan K Verma

In London, Malcolm Imrie, my literary agent, once went to pick up food from a restaurant owned by a Turkish man. He bought pita bread, hummus and some feta cheese, and by way of conversation told the proprietor that he was looking forward now to a Turkish dinner at home. To which the Turkish gentleman, pointing at what Malcolm had bought, said: “That, sir, is from Turkey, that from Greece, and that is from Cyprus.”

I recalled this little nugget in the context of Brexit. Most nations within the EU have much in common in terms of civilisational roots. But there is below that beguiling overlap, persistent diversities that are resistant to any aggressive or insensitive attempt at homogenisation. Economics may appear to be behind the causes and consequences of Brexit. But the attempt by Brussels to straitjacket European countries in a mass of red tape overriding national identities and predispositions was a vital contributing factor.

The south of France is a popular tourist destination. To the west the coast spills over into Spain, and to the east into Italy. The moment you cross the border on either side, a great deal changes: language, cultural mores, traditions and diets. One of the great myths spawned by globalisation is that in the ‘global village’ we are all mirror images of each other. Of course, more than ever before, people now know much more about each other. But cultures retain their indelible differences and that diversity must be respected.

All cultures are products of a specific space and milieu, they are not interchangeable, and while they do evolve, they cannot relentlessly be co-opted as part of some undifferentiated, global, cosmopolitan generality. Ironically, the impetus to form the EU was inspired by this myth; but it is precisely this myth that poses a threat to its survival today.

This myth has had strong votaries. Francis Fukuyama, the bestselling author of 'The End of History and the Last Man', argued in the 1990s that a homogenous future had already arrived with the end of the Cold War and the triumph of western capitalism. But even he concedes in his later and far more insightful work, 'Trust: The Social Virtues and the Creation of Prosperity', that cultures make people and nations different and that no immutable laws can be applied uniformly to all people.

Contrarily, in 2006, Amartya Sen, in his well-intentioned book 'Identity and Violence',argued that there is no centrality to identity at all and all human beings are – or will potentially be – only an aggregation of affiliations and associations.

Perhaps Sen was seeking to demolish Samuel Huntington's dire prophecy a decade earlier that in the post-Cold War world, the most important distinctions among people will be cultural, and not political, economic or ideological. Attacking the 'universalist pretensions' of the West, Huntington warned of an impending clash with other civilisations that could pose a grave threat to world peace. Liberals have consistently questioned such a confrontationist view.

But, significantly, even liberal academicians in the UK like Bhikhu Parekh, a member of the House of Lords, have reiterated the importance of culture. "Culture gives coherence to our lives," writes Parekh, "gives us the resources to make sense of the world and stabilises our personality."

The British, i think, always had reservations against supra-national integration. Even as members of the EU, they continued to measure distance in miles, preferred the pound to the euro and drank their beer in pints. Such reservations become exacerbated in times of relative economic decline, especially on matters of immigration. Under the EU's policy of free movement of people, some three million 'outsiders', including a great many Poles and Lithuanians, have taken up residence and scarce jobs in the UK.

Notwithstanding globalisation, cultures still retain a stubborn opacity impenetrable to outsiders. Upamanyu Chatterjee, the author, once told me about an Indian

woman bureaucrat, who was keeping Karva Chauth fast during an official visit to Paris, and went to the roof of her hotel where she reasoned the moon would be more accessible. Unfortunately, this part of the hotel was not open to guests, and she set off an alarm. The French police were there in a jiffy.

The lady's French was poor, but even if it was excellent the estimable members of the gendarmerie would have found it hard to believe that all she wanted to do was to frame the moon in a sieve before breaking a fast she had kept for the longevity of her husband who was thousands of miles away in Delhi, where the moon would have risen several hours earlier! They promptly arrested her and were wondering which psychologist to consult when the Indian embassy bailed her out.

The EU – and the world – must learn the limits of cultural homogeneity, and the importance of cultural diversity. By contrast, India is facing a different challenge. A successful ganga-jamuni tehzeeb that has over centuries creatively melded into a plural society is under threat by majoritarian forces adamant to homogenise in the name of Hindutva. Although a nation state, India as a federation is in many respects like the EU. Perhaps our Hindutva evangelists would do well to study the real cause behind Brexit.

THE HINDU
INDIA'S NATIONAL NEWSPAPER SINCE 1878

Date: 01-07-16

Is FDI really a gift horse?

BISWAJIT DHARK. S. CHALAPATI RAO

Data for India do not allow us to make the distinction between long-term and portfolio investments.

In less than a year, the Government of India has announced yet another set of "radical changes" in foreign direct investment (FDI) policies. The earlier announcement in November 2015 introduced changes in 15 major sectors, and the latest announcement covers nine sectors.

However, the thrust of the two sets of policy changes remains the same, namely to ease entry of foreign investors in India. Last year's announcement stated that the policy changes were intended to "ease, rationalise and simplify the process of foreign investments in the country and to put more and more FDI proposals on automatic route instead of Government route where time and energy of the investors is wasted", while the recent amendments "seek to further simplify the regulations governing FDI in the country and make India an attractive destination for foreign investors".

A more cogent explanation is, however, provided in the Consolidated FDI Policy that was unveiled just a fortnight earlier and which states: "It is the intent and objective of the Government of India to attract and promote foreign direct investment in order to supplement domestic capital, technology and skills, for accelerated economic growth. Foreign Direct Investment, as distinguished from portfolio investment, has the connotation of establishing a 'lasting interest' in an enterprise that is resident in an economy other than that of the investor.

FDI in theory and practice

Now that India has become "the most open economy in the world for FDI", can the country expect to benefit from this form of investment?

We would begin by trying to understand whether FDI has retained its character of being long-term inflows of investible capital in an age when global capital markets are being ruled by investors having short-term targets. Economists have always treated FDI as that component of foreign investment in an enterprise that confers "control" to the foreign investor over the enterprise. All other foreign investment was defined as portfolio investment, and this component was considered

"footloose". As regards the threshold for identifying whether an enterprise was foreign-controlled or otherwise, most countries adopted their own definitions. For instance, in the past, the Reserve Bank of India (RBI) followed the practice of identifying "foreign-controlled rupee companies", which were companies having foreign shareholding of 25 per cent or more of total equity or where 40 per cent share is held by investors from a single country.

In recent decades, the Organisation for Economic Cooperation and Development (OECD) and International Monetary Fund (IMF) have pushed for a globally acceptable definition of FDI, according to which 10 per cent or more of foreign equity constitutes the "controlling share" in an enterprise. But not all countries have adopted the OECD-IMF definition.

For instance, in India all investments other than those through the stock market are reported as FDI. India, therefore, does not make any distinction between the "controlling share" and the others as far as FDI is concerned. This implies that data on FDI for India do not allow us to make the distinction between long-term investments and portfolio investments.

Foreign investors consider "controlling share" to be vital for bringing in state-of-the-art technologies. However, given the fact that developing countries have been struggling to get access to proprietary technologies despite steep increases in FDI inflows over time, there seems to be the proverbial slip between access to technology and FDI inflows.

The OECD-IMF duo introduced some other components in the definition of FDI, the most significant of these being the inclusion of reinvested earnings. While it may be justified for balance of payments purposes, the fact is that retained earnings increase the host country's liabilities without actually transferring resources from abroad. Retained earnings are a part of the profits earned by foreign companies in their host countries, which are in domestic currencies. Once capitalised and absorbed in the

equity stock, retained earnings become conduits for larger dividend remittances in future. Further, if such earnings are used to take over domestic companies or to buy back shares from the public, then they would not add to the existing capacities. Data provided by the UN Conference on Trade and Development (UNCTAD) show that the share of reinvested earnings has increased progressively during the recent past and by 2013 they constituted two-thirds of the FDI outflows from the developed countries. In fact, more money was flowing into the developed countries as dividend income than that was flowing out as direct investment. Thus actual cross-border equity flows that meet the conventional definition of FDI are only a fraction of the reported global FDI flows.

Inflows and outflows

According to official statistics, India has seen a steep increase in FDI inflows totalling over $55 billion in 2015-16. However, in the world of high finance, FDI is not a gift horse —there are at least two sets of costs that host countries have to bear. The first is the direct cost stemming from outflows on account of operation of foreign companies. The RBI has reported that between 2009-10 and 2014-15, outflows due to repatriations, dividends and payments for technology have together constituted a major foreign exchange drain — nearly one-half of the equity inflows during this period! The RBI also tells us that during the same period, subsidiaries of foreign companies operating in India ran negative trade balances in almost all manufacturing sub-sectors. Together with remittances and other payments, foreign subsidiaries in most sectors regularly drew out surpluses which look quite large when compared with the capital that the foreign companies were bringing in.

Apart from the direct costs, foreign investors are able to extract indirect benefits from their host economies by using bilateral investment promotion and protection agreements (BIPA). In recent years, India has faced a number of disputes with foreign investors, which arose because the latter was able to invoke the investor-state dispute settlement (ISDS) mechanism included in the BIPAs that allows disputes to be taken to private international arbitration panels. Most of the cases

have arisen as the foreign investors have challenged the tax liabilities imposed by the government. The government has amended the model BIPA ostensibly to blunt the ISDS mechanism. The new model BIPA includes a strong stricture to foreign investors to make timely payment of their tax liabilities in accordance with India's laws. It will be well worth watching as to how this instrument gels with the investor-friendly regime that has now been put in place.

Biswajit Dhar is professor, Jawaharlal Nehru University, and K.S. Chalapati Rao is professor, Institute for Studies in Industrial Development, New Delhi.